Chapter उन्नीस

आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि

इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस तरह काल्पनिक ज्ञान के अभ्यासकर्ता अपनी विधि

त्याग देते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त शाश्वत रूप से भक्ति में लगे रहते हैं। साथ ही योगियों के यम इत्यादि अभ्यासों का भी वर्णन किया गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा, ''जो वास्तव में ज्ञानी है, जो आत्मा के सत्य को जानता है और दिव्य अन्तर्दृष्टि रखता है, वह संसार के द्वैतों को तथा भोग के समर्थक तथाकथित ज्ञान का बहिष्कार कर देता है। वह अपने को सबके स्वामी भगवान् को तुष्ट करने के प्रयास में लगाता है। यही शुद्ध *भक्तियोग* है। यद्यपि मंत्रों के उच्चारण जैसे सामान्य पवित्र कार्य से दिव्य ज्ञान बढ़कर है किन्तु शुद्ध भक्ति ज्ञान से भी बढ़कर है।''

इसके बाद जब श्री उद्धव ने अनुरोध किया कि भगवान् कृष्ण उन्हें दिव्य ज्ञान तथा भक्ति के विषय में विस्तार से बतलायें, तो भगवान् ने वही उपदेश कह सुनाये जिन्हें परम वैष्णव भीष्मदेव ने कुरुक्षेत्र युद्ध के अवसर पर श्री युधिष्ठिर को इन्हीं विषयों पर दिया था। इसके बाद यम तथा अन्य योगाभ्यासों के विषय में पूछे जाने पर, भगवान् ने अहिंसा इत्यादि बारह प्रकार के *यम* तथा शारीरिक स्वच्छता इत्यादि बारह प्रकार के *नियम* बतलाये।

श्रीभगवानुवाच
यो विद्याश्रुतसम्पन्नः आत्मवान्नानुमानिकः ।
मयामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि सन्न्यसेत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यः—जो; विद्या—अनुभूत ज्ञान से; श्रुत—तथा प्रारम्भिक शास्त्रीय ज्ञान से; सम्पन्नः—युक्त; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध; न—नहीं; आनुमानिकः—निर्विशेष चिन्तन में संलग्न; माया—मोह; मात्रम्—एकमात्र; इदम्—यह ब्रह्माण्ड; ज्ञात्वा—जान कर; ज्ञानम्—ऐसा ज्ञान तथा उसे प्राप्त करने के साधन; च—भी; मयि—मुझमें; सन्न्यसेत्—आत्मसमर्पण करे, शरण ग्रहण करे।

भगवान् ने कहा : जिस स्वरूपसिद्ध व्यक्ति ने प्रकाश पाने तक शास्त्रीय ज्ञान का अनुशीलन किया है और जो भौतिक ब्रह्माण्ड को मात्र मोह समझ कर, निर्विशेष चिन्तन से मुक्त होता है, उसे चाहिए कि वह उस ज्ञान को तथा उसे प्राप्त करने वाले साधनों को मुझे समर्पित कर दे।

तात्पर्य : *मायामात्रम् इदं ज्ञात्वा* यह ज्ञान सूचित करता है कि नित्य आत्मा तथा नित्य भगवान् भौतिक जगत के नश्वर गुणों से पूरी तरह भिन्न होते हैं। *विद्याश्रुत सम्पन्न* शब्द बताते हैं कि मनुष्य को प्रकाश पाने के लिए वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करना चाहिए और योग, बौद्धिकता या निर्विशेष चिन्तन का दिखावा नहीं करना चाहिए। माया के मोहमय प्रभावों को निष्प्रभावी बनाकर, मनुष्य को

भगवान् का दार्शनिक निषेध करने वाली विधि को उन्हें ही अर्पित करके, अपना ध्यान भगवान् में लगाना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी यह उदाहरण देते हैं कि संकट उपस्थित होने पर, राजा नागरिकों को हथियार दे सकता है, किन्तु सैन्य विजय के पश्चात् वे नागरिक अपने हथियार राजा को लौटा देते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इस श्लोक की यही बात इस प्रकार बतलाई है—जीव को सर्वप्रथम भौतिक मोह से अपने को किसी न किसी प्रकार से छुड़ाना पड़ता है, जिसने अनादि काल से उसे आच्छादित कर रखा है। योगाभ्यास के द्वारा नैष्काम तथा वैराग्य का अनुशीलन करते हुए जीव मोह का ज्ञान उत्पन्न कर लेता है और इस तरह वह अपने को भौतिक अज्ञान से ऊपर उठा लेता है। किन्तु एक बार दिव्य पद पर स्थित हो लेने पर, मोह का ज्ञान तथा ऐसा ज्ञान प्राप्त करने की विधि—इन दोनों का कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं रह जाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर उदाहरण देते हैं कि मनुष्य को साँप या सिंह का भूत सता सकता है। जब तक मनुष्य वशीभूत रह कर सोचता है कि, ''मैं साँप हूँ'' या ''मैं सिंह हूँ'' तब तक रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी द्वारा भूत-प्रेत के प्रभाव को दूर करने के प्रयास होते रहते हैं। किन्तु ऐसे भूत-प्रेत के प्रभाव से मुक्त हो जाने पर, वही व्यक्ति सोचता है ''मैं अमुक हूँ, अमुक का पुत्र हूँ'' और वह अपने पहले स्वभाव पर लौट आता है। उस समय रत्न, मंत्र, जड़ी-बूटी इत्यादि का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इस तरह इस श्लोक में *विद्या* शब्द उस ज्ञान को बताता है, जिसे दार्शनिक विश्लेषण, योग, तप तथा वैराग्य से प्राप्त किया जाता है। इस जगत के नश्वर तथा मोहमय स्वभाव का ऐसा ज्ञान अज्ञान को दूर करता है और ऐसे ज्ञान का प्रशिक्षण अनेक वैदिक शास्त्र देते हैं। मनुष्य धीरे धीरे भौतिक शरीर तथा मन के साथ तथा मन एवं शरीर से प्रतिक्रिया करने वाले उन भौतिक पदार्थों से अपनी झूठी पहचान त्याग देता है। ऐसा निराकरणकारी ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगना चाहिए और शुद्ध भक्त बनना चाहिए। जब वह कृष्णभावनामृत में परिपूर्ण हो जाता है, तो मोह के असंख्य विवरणों में उसकी रुचि नहीं रह जाती और धीरे धीरे वह वैकुण्ठ को प्राप्त होता है।

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च सम्मतः ।

स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानिनः—विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिक का; तु—निस्सन्देह; अहम्—मैं; एव—एकमात्र; इष्टः—पूजा की वस्तु; स्व-अर्थः—वांछित जीवन-लक्ष्य; हेतुः—जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधन; च—भी; सम्मतः—नश्चिति मत; स्वर्गः—स्वर्ग जाने के सारे सुख का कारण; च—भी; एव—निस्सन्देह; अपवर्गः—सारे दुख से मुक्ति; च—भी; न—नहीं; अन्यः—कोई दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; मत्—मुझको; ऋते—रहित; प्रियः—प्रिय वस्तु।.

विद्वान स्वरूपसिद्ध दार्शनिकों के लिए मैं एकमात्र पूजा का लक्ष्य, इच्छित जीवन-लक्ष्य, उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन तथा समस्त ज्ञान का निश्चित *मत* हूँ। चूँकि मैं उनके सुख का तथा दुख से विमुक्ति का कारण हूँ, अतः ऐसे विद्वान व्यक्ति एकमात्र मुझे ही जीवन का प्रभावशाली उद्देश्य या प्रिय लक्ष्य बनाते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कृष्ण ने कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि अन्ततोगत्वा वह ज्ञान जिससे यह जगत मोह के रूप में देखा जाता है, भगवान् को समर्पित कर दे। भौतिक आसक्ति निश्चय ही जीवों के लिए एक समस्या है क्योंकि वह आत्मा का रोग है। जिस व्यक्ति को खुजली का त्वचा-रोग हो जाता है उसे असह्य जख्मों को खुजलाने से क्षणिक राहत मिलती है। यदि वह खुजलाता नहीं तो उसे घोर कष्ट होता है, किन्तु खुजलाने से क्षणिक आनन्दानुभूति तो होती है, बाद में खुजली के बढ़ने से असह्य कष्ट होता है। वास्तविक सुख खुजली को खुजलाने में नहीं मिलता अपितु ऐसे रोग से मुक्त होने में है। बद्धजीव अनेक मोहमयी इच्छाओं द्वारा सताये जाते हैं और वे हताशा में अवैध यौन, मांसाहार, जुए तथा नशे जैसी गंदी खुजली से इन्द्रियों को तृप्त करना चाहते हैं। वे भौतिक संग, मैत्री तथा प्रेम द्वारा भी राहत पाने का प्रयास करते हैं, किन्तु इनका परिणाम असह्य कष्ट ही निकलता है। असली सुख तो भौतिक इच्छा रूपी खुजली के रोग को सदा सदा के लिए दूर निकाल फेंकना है। चूँकि भौतिक इच्छा आत्मा का रोग है, अतएव इसका उपचार करने तथा इसे निकाल फेंकने का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ऐसे उपचार-रूपी ज्ञान की तब तक आवश्यकता रहती है, जब तक मनुष्य रुग्ण रहता है किन्तु जब वह पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, तो ऐसा विशेष चिकित्सा-ज्ञान स्वस्थ पुरुष के लिए रुचिकर नहीं रह जाता और वह ऐसा ज्ञान डाक्टरों के लिए छोड़ सकता है। इसी तरह कृष्णभावनामृत में बढ़े-चढ़े व्यक्ति को सदा अपनी निजी समस्याओं के बारे में न सोचते हुए, प्रेम तथा भक्ति के साथ भगवान् कृष्ण के विषय में सोचने की आवश्यकता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने सलाह दी है कि मनुष्य को माया के व्यावहारिक ज्ञान द्वारा निजी समस्याएँ दूर कर लेनी चाहिए। ऐसी समस्याओं के

निरन्तर चिन्तन को त्यागने पर मनुष्य ईश्वर का प्रेमी बन सकता है। भगवान् कृष्ण निश्चित रूप से अपने प्रत्येक निष्ठावान् भक्त का मार्गदर्शन हृदय के भीतर से तथा बाहर से प्रामाणिक गुरु द्वारा करते हैं। इस तरह वे अपने निष्ठावान भक्तोंको जड़ पदार्थ के प्रति अविवेकी आसक्ति त्यागने का क्रमिक प्रशिक्षण देते हैं। एक बार स्वतंत्र हो जाने पर, भक्त वैकुण्ठ में कृष्ण के साथ अपना सुसम्बन्ध जोड़ लेता है।

कोई यह मिथ्या विचार अपने मन में ला सकता है कि जिस तरह प्रगति की किसी अवस्था में माया के व्यावहारिक वैश्लेषिक ज्ञान के प्रति एकाग्रता छूट जाती है, उसी तरह अन्य अवस्था में वह भगवान् कृष्ण की प्रेमाभक्ति भी छोड़ सकता है। ऐसे चिन्तन का खण्डन करने के लिए ही यहाँ कई तरह से कृष्ण यह कहते हैं कि वे समस्त विद्वान व्यक्तियों के परम नित्य लक्ष्य हैं। निस्सन्देह, इस ब्रह्माण्ड के भीतर सबसे प्रमुख पंडित चारों कुमार हैं, जो कृष्ण को अपना एकमात्र आराध्य मानते हैं। चूँकि उन्हें पता चल गया कि वे भगवान् के नित्य भिन्नांश हैं, अतएव उन्हें सकाम कर्म तथा ज्ञान में कोई रुचि नहीं रही। भगवान् कृष्ण अपने ऐसे निष्ठावान् भक्तों को स्वर्गिक आनन्द तथा चिन्ता से मुक्ति प्रदान करते हैं, जिन्हें भगवान् के अतिरिक्त जीवन में कोई अन्य उद्देश्य या प्रिय वस्तु नहीं है।

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान में; संसिद्धाः—परम पूर्ण; पदम्—चरणकमल; श्रेष्ठम्—श्रेष्ठ वस्तु; विदुः—जानते हैं; मम—मेरा; ज्ञानी—विद्वान योगी; प्रिय-तमः—सर्वाधिकप्रिय; अतः—इस तरह; मे—मुझको; ज्ञानेन—आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा; असौ—वह विद्वान पुरुष; बिभर्ति—धारण करता है (सुख में); माम्—मुझको।.

जिन्होंने दार्शनिक तथा अनुभूत ज्ञान द्वारा पूर्ण सिद्धि प्राप्त कर ली है, वे मेरे चरणकमलों को परम दिव्य वस्तु मानते हैं। इस प्रकार का विद्वान योगी मुझे अत्यन्त प्रिय होता है और इस पूर्ण ज्ञान से वह मुझे सुख में धारण किये रखता है।

तात्पर्य : *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम*—यह पद निश्चित रूप से निर्विशेषवादियों को *संसिद्धाः* की कोटि से अलग कर देता है। यहाँ भगवान् कृष्ण, चारों कुमार, शुकदेव गोस्वामी, श्री व्यासदेव, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर तथा श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद जैसे महान् पण्डितों का सन्दर्भ दे रहे हैं। इसी तरह *भगवद्गीता* (७.१७-१८) में भगवान् कहते हैं—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रिय: ॥

''इनमें से जो परम ज्ञानी है और शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि मैं उसे अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।''

उदारा: सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थित: स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमं गतिम्॥

''निस्सन्देह, ये सब उदारचेता व्यक्ति हैं, किन्तु जो मेरे ज्ञान को प्राप्त है उसे मैं अपने ही समान मानता हूँ। वह मेरी दिव्य सेवा में तत्पर रह कर मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करता है।''

ज्ञान सच्चाई की प्रामाणिक दार्शनिक एवं वैश्लेषिक अनुभूति को बताता है और जब ऐसा ज्ञान चेतना की शुद्धि के द्वारा स्पष्टतया प्राप्त किया जाता है, तो परिणामस्वरूप प्राप्त विशद अनुभव *विज्ञान* कहलाता है। चिन्तनपरक निर्विशेष ज्ञान कभी भी जीव के हृदय को वस्तुत: शुद्ध नहीं करता, प्रत्युत उसे भगवान् की विस्मृति में और गहरा डाल देता है। जिस प्रकार पिता को सदैव अपने पुत्र की शिक्षा पर गर्व रहता है, उसी तरह भगवान् कृष्ण गम्भीर आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने वाले तथा भगवद्धाम आने की दिशा में प्रगति करने वाले जीवों को देख कर परम सुखी होते हैं।

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं या ज्ञानकलया कृता ॥ ४॥

शब्दार्थ

तप:—तपस्या; तीर्थम्—तीर्थस्थान जाकर; जप:—मौन प्रार्थना करके; दानम्—दान; पवित्राणि—पुण्य कार्य; इतराणि—अन्य; च—भी; न—नहीं; अलम्—उसी स्तर तक; कुर्वन्ति—प्रदान करते हैं; ताम्—यह; सिद्धिम्—सिद्धि; या—जो; ज्ञान—आध्यात्मिक ज्ञान; कलया—एक अंश; कृता—पुरस्कृत किया जाता है।

जो सिद्धि आध्यात्मिक ज्ञान के एक अंशमात्र से उत्पन्न होती है, वह तपस्या करने, तीर्थस्थानों में जाने, मौन प्रार्थना करने, दान देने अथवा अन्य पुण्यकर्मों में लगने से प्राप्त नहीं की जा सकती।

तात्पर्य : यहाँ पर *ज्ञान* सूचक है भगवान् के परम साम्राज्य की स्पष्ट जानकारी का और यह ज्ञान भगवान् से अभिन्न है। भगवान् परम या सर्वोच्च हैं, इसकी पुष्टि पिछले श्लोक में *पदं श्रेष्ठं विदुर्मम्* द्वारा ही हो जाती है। कोई चाहे यज्ञ करे या गर्वित भाव से अथवा भौतिक स्वार्थ से तीर्थस्थानों में जाये, चाहे वह ईश्वर की प्रार्थना करे, दान दे या बाह्य दिखावटी रूप से अथवा आसुरी मनोवृत्ति से अन्य

पुण्यकर्म करे, किन्तु भगवान् कृष्ण की श्रेष्ठता का ज्ञान वैकुण्ठ से ठोस सम्बन्ध बनाता है और इस शुद्ध ज्ञान का अनुसरण करते रहने से मनुष्य वैकुण्ठ-लोक जाता है।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावतः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इसलिए; ज्ञानेन—ज्ञान; सहितम्—सहित; ज्ञात्वा—जान कर; स्व-आत्मानम्—अपने आप को; उद्धव—हे उद्धव; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा स्पष्ट अनुभूति से; सम्पन्नः—युक्त; भज—पूजा करो; माम्—मेरी; भक्ति—प्रेमाभक्ति के; भावतः—भाव में।

इसलिए हे उद्धव, तुम ज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक आत्मा को जानो। तत्पश्चात् अपने वैदिक ज्ञान की स्पष्ट अनुभूति से आगे बढ़ते हुए प्रेमाभक्ति भाव से मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : *विज्ञान* शब्द से मनुष्य के आदि आध्यात्मिक स्वरूप के अनुभूत ज्ञान का संकेत मिलता है। प्रत्येक जीव का नित्य आध्यात्मिक स्वरूप होता है, जो मूल कृष्णभावनामृत के जागृत होने तक सुप्त पड़ा रहता है। अपने आध्यात्मिक स्वरूप के ज्ञान के बिना भगवान् कृष्ण के प्रति प्रेम का अनुशीलन करना सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञात्वा स्वात्मानम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं, जो यह सूचित करते हैं कि केवल भगवद्धाम में हर जीव अपने व्यक्तित्व की पूरी शक्ति का अनुभव कर सकता है।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—वैदिक ज्ञान; विज्ञान—तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता का; यज्ञेन—यज्ञ द्वारा; माम्—मुझको; इष्ट्वा—पूज कर; आत्मानम्—प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर परमेश्वर को; आत्मनि—अपने भीतर; सर्व—समस्त; यज्ञ—यज्ञों के; पतिम्—स्वामी; माम्—मुझ को; वै—निश्चय ही; संसिद्धिम्—परम सिद्धि; मुनयः—मुनिगण; अगमन्—प्राप्त किया।

पुराकाल में बड़े बड़े मुनि वैदिक ज्ञान तथा आध्यात्मिक प्रबुद्धता रूपी यज्ञ के द्वारा यह जानते हुए अपने अन्तःकरण में मेरी पूजा करते थे कि मैं ही समस्त यज्ञों का परमेश्वर तथा प्रत्येक हृदय में परमात्मा हूँ। इस तरह मेरे पास आने से इन मुनियों ने परम सिद्धि प्राप्त की।

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।

जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; उद्धव—हे उद्धव; आश्रयति—प्रवेश करके रहता जाता है; यः—जो; त्रि-विधः—गुणों के अनुसार तीन विभाग; विकारः—(शरीर तथा मन जिनसे प्रभावित होते हैं ऐसे) निरन्तर रूपान्तर; माया—मोह; अन्तरा—वर्तमान समय में; आपतति—सहसा प्रकट होता है; न—नहीं; आदि—प्रारम्भ में; अपवर्गयोः—न तो अन्त में; यत्—चूँकि; जन्म—जन्म; आदयः—इत्यादि (वृद्धि, जन्म, पालन, जरा, मृत्यु); अस्य—शरीर का; यत्—जब; अमी—ये; तव—तुम्हारे सम्बन्ध में; तस्य—आध्यात्मिक प्रकृति के सम्बन्ध में; किम्—क्या सम्बन्ध; स्युः—हो सकते हैं; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; यत्—चूँकि; असतः—जिसका अस्तित्व नहीं है उसका; अस्ति—अस्तित्व है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; मध्ये—मध्य में, सम्प्रति।.

हे उद्धव, प्रकृति के तीन गुणों से निर्मित भौतिक शरीर तथा मन तुमसे लिपटे रहते हैं, किन्तु, वास्तव में, वे माया हैं क्योंकि वे वर्तमान काल में ही प्रकट होते हैं। इनका कोई आदि या अन्त नहीं है। इसलिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि शरीर की विभिन्न अवस्थाएँ—यथा जन्म, वृद्धि, प्रजनन, पालन, जरा तथा मृत्यु—तुम्हारी नित्य आत्मा से कोई सम्बन्ध रखते हों? इन अवस्थाओं का सम्बन्ध एकमात्र भौतिक देह से है, जिसका न तो इसके पूर्व अस्तित्व था और न रहेगा। शरीर केवल वर्तमान काल में ही रहता है।

तात्पर्य : यह दृष्टान्त दिया जाता है कि जंगल में विचरण करने वाला व्यक्ति किसी रस्सी को देख कर उसे सर्प समझ बैठता है। ऐसी अनुभूति *माया* या मोह है यद्यपि रस्सी का अस्तित्व है और अन्य स्थान पर सर्प भी रहता है। इसलिए *माया* एक वस्तु की दूसरी वस्तु से मिथ्या पहचान को बताती है। भौतिक शरीर अल्पकाल तक रहता है और तब अदृश्य हो जाता है। शरीर न तो भूतकाल में था और न भविष्य में रहेगा। वह तथाकथित वर्तमान काल में क्षणिक अस्तित्व का भोग करता है। यदि हम झूठे ही अपने को भौतिक शरीर या मन मान बैठें, तो हम माया को जन्म देते हैं। जो व्यक्ति अपनी पहचान अमरीकी, रूसी, चीनी, मैक्सीकन, गोरा या काला, स्त्री या पुरुष, साम्यवादी या पूँजीवादी के रूप में करता है और ऐसी उपाधियों को स्थायी पहचान मान लेता है, वह निश्चित रूप से माया में फँसा होता है। उसकी तुलना उस सुप्त व्यक्ति से की जा सकती है, जो स्वप्न में अपने को भिन्न शरीर में कार्यशील देखता है। पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने उद्धव को बतलाया था कि आध्यात्मिक ज्ञान सर्वोच्च सिद्धि पाने का साधन है और अब वे ऐसे ज्ञान का खुल कर वर्णन कर रहे हैं।

श्रीउद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; ज्ञानम्—ज्ञान; विशुद्धम्—दिव्य; विपुलम्—विस्तृत; यथा—जिस तरह; एतत्—यह; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति; युतम्—से युक्त; पुराणम्—महान् दार्शनिकों के मध्य परम्परागत; आख्याहि—कृपा करके बतलायें; विश्व-ईश्वर—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; विश्व-मूर्ते—हे ब्रह्माण्ड के रूप; त्वत्—तुम्हारे प्रति; भक्ति-योगम्—प्रेमाभक्ति; च—भी; महत्—महान् आत्माओं द्वारा; विमृग्यम्—खोजे जाते।

श्री उद्धव ने कहा : हे ब्रह्माण्ड के स्वामी, हे ब्रह्माण्ड स्वरूप, कृपा करके मुझे ज्ञान की वह विधि बतलाइये जो स्वतः विरक्ति तथा सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति लाने वाली है, जो दिव्य है और महान् आध्यात्मिक दार्शनिकों में परम्परा से चली आ रही है। महापुरुषों द्वारा खोजा जाने वाला यह ज्ञान आपके प्रति प्रेमाभक्ति को बताने वाला है।

तात्पर्य : जो लोग संसार के अंधकार को पार करने में सक्षम हैं, वे *महत्* अर्थात् महापुरुष कहलाते हैं। ऐसे महापुरुषों को गौण वस्तुएँ यथा विश्व-चेतना या विश्व-नियमन भगवान् की प्रेमाभक्ति से विपथ नहीं कर पाते। श्री उद्धव वह शाश्वत धर्म-ज्ञान सुनने के इच्छुक हैं, जो सभी महापुरुषों के परम्परागत लक्ष्य हैं।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

ताप—कष्टों द्वारा; त्रयेण—तीन; अभिहतस्य—अभिभूत हुए का; घोरे—घोर; सन्तप्यमानस्य—सताये हुए का; भव—संसार का; अध्वनि—मार्ग में; ईश—हे ईश्वर; पश्यामि—देखता हूँ; न—कोई नहीं; अन्यत्—दूसरी; शरणम्—शरण; तव—तुम्हारा; अङ्घ्रि—चरणकमल; द्वन्द्व—दो का; आतपत्रात्—छाते की अपेक्षा; अमृत—अमृत की; अभिवर्षात्—वर्षा।

हे प्रभु, जो व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के घोर मार्ग में सताया जा रहा है और तीनों तापों से निरन्तर अभिभूत रहता है, उसके लिए मुझे आपके दो चरणकमलों के अतिरिक्त अन्य कोई सम्भव आश्रय नहीं दिख रहा। ये उस सुखदायक छाते के तुल्य हैं, जो स्वादिष्ट अमृत की वर्षा करता है।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण उद्धव के अत्यन्त बौद्धिक स्वभाव को पहचान कर, बारम्बार संस्तुति

करते हैं कि मनुष्य को दिव्य ज्ञान के अनुशीलन द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। किन्तु भगवान् ने यह भी स्पष्ट दिखलाया है कि ऐसे ज्ञान से मनुष्य को भगवान् की प्रेमाभक्ति तक पहुँचना चाहिए अन्यथा वह व्यर्थ है। इस श्लोक में श्री उद्धव भगवान् कृष्ण के कथन की पुष्टि करते हैं कि वास्तविक सुख भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जब पृथु महाराज का राज्याभिषेक हुआ था, तो वायु देव ने उन्हें एक छाता भेंट किया था, जो निरन्तर पानी की फुहारें निकालता था। यहाँ पर भगवान् के दो चरणकमलों की उपमा उस अद्‌भुत छाते से दी गई है, जो कृष्णभावनामृत के आनन्द रूपी मधुर अमृत की निरन्तर वर्षा करता है। सामान्यतया चिन्तनपरक वैश्लेषिक ज्ञान का अन्त परब्रह्म की निर्विशेष अनुभूति में होता है किन्तु निर्विशेष आध्यात्मिक रूप में तदाकार होने का तथाकथित आनन्द कभी भी कृष्णभावनामृत आनन्द की तुलना नहीं कर सकता जैसाकि श्री उद्धव ने यहाँ पर कहा है। इस तरह कृष्णभावनामृत स्वत: पूर्ण ज्ञान है क्योंकि भगवान् कृष्ण समस्त जीवों के परम आश्रय हैं। इस श्लोक में *अभिहतस्य* तथा *अभिवर्षात्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभिहतस्य* उस व्यक्ति का सूचक है, जो चारों ओर से प्रकृति की मार से पराजित होता रहता है, जबकि *अभिवर्षात्* अमृत वर्षा का सूचक है, जो संसार की सारी समस्याओं को दूर करती है। हमें चाहिए कि अपनी बुद्धि से हम मन्द भौतिक देह तथा अविवेकी भौतिक मन के परे देखें जिससे हम भगवान् कृष्ण के दो चरणकमलों से आने वाले आनन्दमय अमृत की असीम वर्षा का अवलोकन कर सकें। तभी हमारा असली सौभाग्य शुरू होगा।

दष्टं जनं सम्पतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥ १० ॥

शब्दार्थ

दष्टम्—काटा हुआ; जनम्—मनुष्य; सम्पतितम्—पतित; बिले—अंधेरे छेद में; अस्मिन्—इस; काल—समय का; अहिना—सर्प द्वारा; क्षुद्र—नगण्य; सुख—सुख; उरु—तथा भीषण; तर्षम्—लालसा; समुद्धर—कृपया ऊपर उठा लें; एनम्—यह व्यक्ति; कृपया—आपकी अहैतुकी कृपा से; आपवर्ग्यै:—मोक्ष के लिए जागृत; वचोभि:—आपके शब्दों से; आसिञ्च—सींचिये; महा-अनुभाव—हे प्रभु।

हे सर्वशक्तिमान प्रभु, कृपा कीजिये और इस निराश जीव को, जो अंधेरे भवकूप में गिर गया है जहाँ कालरूपी सर्प ने उसे डस लिया है, ऊपर उठाइये। ऐसी गर्हित अवस्था होते हुए भी

यह बेचारा जीव अत्यन्त क्षुद्र भौतिक सुख भोगने की उत्कट इच्छा से युक्त है। हे प्रभु, आप अपने उस उपदेशामृत को छिड़क कर मेरी रक्षा कीजिये, जो आध्यात्मिक मुक्ति के लिए जागृत करने वाला है।

तात्पर्य : अभक्तों द्वारा जिस भौतिक जीवन की अत्यधिक कामना की जाती है, उसकी तुलना विषैले साँपों से युक्त अन्धेरे बिल से की गई है। भौतिक जीवन में किसी को अपने, ईश्वर या ब्रह्माण्ड के परम स्वरूप का कोई स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। हर वस्तु अस्पष्ट तथा अंधकारमय लगती है। भौतिक जीवन में कालरूपी विषैला सर्प सदैव डराता रहता है और सर्प के विषैले दाँतों से किसी भी क्षण हमारे निकट सम्बन्धी मारे जा सकते हैं। अन्तत: हम भी काल द्वारा दंशित तथा उसके विषैले प्रभाव से मारे जायेंगे। *सम्पतितम्* शब्द यह बताता है कि जीव का पूरी तरह पतन होता है। दूसरे शब्दों में, वह पुन: उठ नहीं पाता। इसलिए श्री उद्धव भगवान् से याचना करते हैं कि वे उन जैसे पतितात्माओं पर दयालु हों। भगवान् की कृपा प्राप्त होने पर मनुष्य बिना किसी अन्य योग्यता के भगवद्धाम जा सकता है किन्तु भगवान् की कृपा के बिना विद्वान से विद्वान, तपस्वी, शक्तिमान, धनी अथवा सुन्दर मनुष्य भी संसार की माया रूपी चक्की से कुचल दिया जायेगा। जैसाकि यहाँ पर बतलाया गया है भगवान् *महानुभाव* हैं अर्थात् अत्यन्त महान, शक्तिमान तथा दयालु पुरुष हैं जिनका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। भगवान् की कृपा का प्राकट्य *भगवद्गीता* तथा *उद्धव गीता* जैसे यहाँ दिए जा रहे अमृतमय उपदेशों के रूप में होता है। *क्षुद्रसुखोरुतर्षम्* शब्द भौतिक जगत की विडम्बना को प्रकट करने वाला है। यद्यपि भौतिक सुख *क्षुद्र* है, किन्तु इसे भोगने की हमारी इच्छा *उरु* अर्थात् अत्यधिक है। जड़ पदार्थ को भोगने की हमारी अनियंत्रित लालसा निश्चित रूप से हमारे मन की मोहावस्था है और यही हमें भौतिक जगत के अंधकारमय कूप (बिल) में बाँध कर निरन्तर कष्ट पहुँचाती है। हर जीव को चाहिए कि नश्वर शारीरिक उपाधियों पर आधारित मिथ्या प्रतिष्ठा को ताक पर रख कर भगवान् से उनकी दया की भीख माँगे। भगवान् पतित से पतित जीव की हर सच्ची याचना को सुनते हैं और भगवान् की कृपा का फल अद्भुत होता है। यद्यपि ज्ञानी, योगी तथा सकाम कर्मी अपना अपना लक्ष्य पाने के लिए अथक परिश्रम करते हैं, किन्तु उनकी स्थिति नाजुक तथा अनिश्चित रहती है। किन्तु मात्र कृष्ण–कृपा पाने से मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है। यदि ऐसा व्यक्ति, जो महान् अथवा शुद्ध कृष्ण–भक्त

नहीं है भगवान् से कृपा की भीख सच्चे दिल से माँगता है, तो उसे भी भगवान् उदार भाव से अवश्य प्रदान करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; इत्थम्—इस प्रकार; एतत्—यह; पुरा—प्राचीन काल में; राजा—राजा; भीष्मम्—भीष्म से; धर्म—धार्मिक सिद्धान्त के; भृताम्—धारण करने वालों; वरम्—श्रेष्ठ; अजात-शत्रुः—जिसके कोई शत्रु नहीं माना जाता, राजा युधिष्ठिर, ने; पप्रच्छ—पूछा; सर्वेषाम्—सबों के; नः—हम; अनुशृण्वताम्—ध्यानपूर्वक सुनते समय।

भगवान् ने कहा : हे उद्धव, जिस तरह तुम मुझसे पूछ रहे हो, उसी तरह भूतकाल में राजा युधिष्ठिर ने जिन्हें अजातशत्रु कहा जाता है, धर्म के महानतम धारणकर्ता भीष्मदेव से पूछा था और हम सभी ध्यानपूर्वक सुन रहे थे।

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान्बहून्पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ते—समाप्त होने पर; भारते—भारत के वंशजों (कुरुओं तथा पाण्डवों के); युद्धे—युद्ध में; सुहृत्—अपने प्रिय शुभचिन्तकों के; निधन—विनाश से; विह्वलः—अभिभूत; श्रुत्वा—सुन कर; धर्मान्—धार्मिक नियम; बहून्—अनेक; पश्चात्—अन्त में; मोक्ष—मोक्ष सम्बन्धी; धर्मान्—धार्मिक सिद्धान्त; अपृच्छत—पूछा।

जब कुरुक्षेत्र का महान् युद्ध समाप्त हो गया, तो राजा युधिष्ठिर अपने प्रिय हितैषियों की मृत्यु से विह्वल थे। इस तरह अनेक धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में उपदेश सुन कर, अन्त में उन्होंने मोक्ष-मार्ग के विषय में जिज्ञासा की थी।

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञानवैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; अहम्—मैं; ते—तुमसे; अभिधास्यामि—कहूँगा; देव-व्रत—भीष्मदेव के; मुखात्—मुख से; श्रुतान्—सुने हुए; ज्ञान—वैदिक ज्ञान; वैराग्य—विरक्ति; विज्ञान—आत्म-अनुभूति; श्रद्धा—श्रद्धा; भक्ति—तथा भक्ति; उप-बृंहितान्—से युक्त।

अब मैं तुमसे भीष्मदेव के मुख से सुने वैदिक ज्ञान, विरक्ति, आत्म-अनुभूति, श्रद्धा तथा भक्ति के उन धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन करूँगा।

नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथाइकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

नव—नौ; एकादश—ग्यारह; पञ्च—पाँच; त्रीन्—तीन; भावान्—तत्त्वों को; भूतेषु—सारे जीवों (ब्रह्मा से लेकर अचर जीवों) में; येन—जिस ज्ञान से; वै—निश्चय ही; ईक्षेत—देखे; अथ—इस प्रकार; एकम्—एक तत्त्व; अपि—निस्सन्देह; एषु—इन अट्ठाईस तत्त्वों में; तत्—वह; ज्ञानम्—ज्ञान; मम—मेरे द्वारा; निश्चितम्—निर्धारित किया गया।.

मैं स्वयं उस ज्ञान को निश्चित करता हूँ जिससे मनुष्य सारे जीवों में नौ, ग्यारह, पाँच तथा तीन तत्त्वों का संमेल देखता है और अन्त में इन अट्ठाईस तत्त्वों के भीतर केवल एक तत्त्व देखता है।

तात्पर्य : नौ तत्त्व हैं—भौतिक प्रकृति, जीव, महत् तत्त्व, मिथ्या अहंकार तथा पाँच इन्द्रिय-विषय यथा ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध। ग्यारह तत्त्व हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाणी, हाथ, पाँव, गुदा तथा प्रजननांग) तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, स्पर्श, आँखें, जीभ तथा नथुने) एवं सब में समन्वय स्थापित करने वाला मन। पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। तीन तत्त्व हैं—प्रकृति के तीन गुण—सतो, रजो तथा तमोगुण। शक्तिमान ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र तृण तक सारे जीवों के शरीर इन्हीं अट्ठाईस तत्त्वों से बने होते हैं। इन अट्ठाइसों तत्त्वों के भीतर एक तत्त्व परमात्मा है, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के भीतर समाया हुआ है।

यह तो आसानी से समझ में आ जाता है कि भौतिक ब्रह्माण्ड असंख्य कारणों तथा कार्यों से बना है। चूँकि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं, अतएव सारे गौण कारण-कार्य भगवान् से अभिन्न हैं। यही समझ असली ज्ञान या *ज्ञान* है, जो जीवन को पूर्ण बनाने के लिए अनिवार्य है।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; एव—निस्सन्देह; हि—वास्तव में; विज्ञानम्—अनुभूत ज्ञान; न—नहीं; तथा—उसी तरह से; एकेन—एक (भगवान्) द्वारा; येन—जिसके द्वारा; यत्—जो (ब्रह्माण्ड); स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृजन; अप्ययान्—तथा संहार; पश्येत्—देखे; भावानाम्—सभी भौतिक तत्त्वों के; त्रि-गुण—प्रकृति के तीन गुणों के; आत्मनाम्—से बना।.

जब कोई व्यक्ति एक ही कारण से उत्पन्न २८ पृथक् पृथक् भौतिक तत्त्वों को न देख कर, एक कारण रूप भगवान् को देखता है, उस समय मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव *विज्ञान* कहलाता है।

तात्पर्य : *ज्ञान* तथा *विज्ञान* के अन्तर को इस प्रकार समझा जा सकता है। बद्धजीव वैदिक ज्ञान का अनुशीलन करने पर भी, कुछ हद तक अपनी पहचान भौतिक शरीर तथा मन से, फलस्वरूप भौतिक ब्रह्माण्ड से, करता है। वह जिस ब्रह्माण्ड में रहता है उसको समझने का प्रयास करने में वह वैदिक ज्ञान के माध्यम से यह सीखता है कि भगवान् समस्त जगत के परम कारण हैं। वह अपने चारों ओर के जगत से परिचित होकर, जगत को अपना स्वीकार कर लेता है। वह ज्यों ज्यों शारीरिक पहचान की दीवार को भेद कर आध्यात्मिक अनुभूति (विज्ञान) में प्रवेश करता है और नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, त्यों त्यों वह वैकुण्ठ से अपनी पहचान बनाने लगता है। तब उसकी रुचि भगवान् में भौतिक जगत की व्याख्या के रूप में नहीं रह जाती, प्रत्युत वह अपनी संपूर्ण चेतना को पुनर्व्यवस्थित करने लगता है, जिससे उसके ध्यान का केन्द्रविन्दु भगवान् बन जाता है। ऐसी पुनर्व्यवस्था इसलिए आवश्यक है क्योंकि भगवान् हर वस्तु के वास्तविक केन्द्र तथा कारण हैं। इस तरह *विज्ञान* की अवस्था को प्राप्त व्यक्ति भगवान् को न केवल भौतिक जगत के स्रष्टा अपितु परम पुरुष के रूप में अनुभव करता है, जो अपने ही शाश्वत परिवेश में आनन्दपूर्वक स्थित हैं। ज्यों ज्यों विज्ञानी चिदाकाश में स्थित भगवद्धाम में भगवान् की अनुभूति में अग्रसर होता है, त्यों त्यों वह भौतिक जगत से अरुचि उत्पन्न करता जाता है और भगवान् की उनके क्षणिक रूपों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषा करना बंद कर देता है। विज्ञानी उन वस्तुओं के प्रति आकृष्ट नहीं होता जो सृजित होती हैं, पालित होती हैं और अन्त में विनष्ट हो जाती हैं। ज्ञान की अवस्था उन लोगों के लिए ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था है, जो अपनी पहचान भौतिक जगत के रूप में करते रहते हैं जबकि विज्ञान उनके लिए ज्ञान की परिपक्व अवस्था है, जो अपने को भगवान् का भिन्नांश मानते हैं।

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसङ्क्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आदौ—कारण अवस्था में; अन्ते—अन्त में; च—भी; मध्ये—पालन की अवस्था में; च—भी; सृज्यात्—एक सृष्टि से; सृज्यम्—दूसरी सृष्टि में; यत्—जो; अन्वियात्—साथ में रहता है; पुनः—फिर; तत्—सभी भौतिक अवस्थाओं के; प्रतिसङ्क्रामे—संहार में; यत्—जो; शिष्येत—बचता है; तत्—वह; एव—निस्सन्देह; सत्—नित्य है, जो।.

आदि, अन्त तथा मध्य—ये तीन अवस्थाएँ हैं भौतिक सृष्टि की। जो इन सारी भौतिक अवस्थाओं में एक सृजन (आदि) से दूसरे सृजन (अन्त) तक साथ साथ लगा रहता है और

जब सारी अवस्थाओं का प्रलय हो जाता है, तो भी जो अकेला बचता है, वही एक शाश्वत है।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर पुनः कहते हैं कि एक भगवान् ही असीम भौतिक विविधता के आधार हैं। भौतिक क्रियाशीलता कार्य-कारण की शृंखला है, जिससे असंख्य वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। कोई एक भौतिक कार्य बाद में कारण में बदल जाता है और जब कारण-अवस्था समाप्त हो जाती है, तो कार्य लुप्त हो जाता है। अग्नि ईंधन को जलाकर राख कर देती है और जब अग्नि का कारण समाप्त हो जाता है, तो पिछले कारण की कार्य-रूप अग्नि भी समाप्त हो जाती है। सीधी-सी बात यह है कि भगवान् की परम शक्ति से ही सारी वस्तुएँ सृजित, पालित और विनष्ट होती हैं। और जब कार्य-कारण का सम्पूर्ण क्षेत्र हट जाता है, जिससे कार्य-कारण सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, तो भगवान् अपने धाम में ही रहते जाते हैं। इसलिए कारणस्वरूप होते हुए भी असंख्य वस्तुएँ परम कारण नहीं होतीं। केवल भगवान् ही परम कारण हैं। इसी तरह भौतिक वस्तुएँ विद्यमान रह कर भी सदैव विद्यमान नहीं रहतीं। एकमात्र भगवान् का ही चरम अस्तित्व होता है। भगवान् के चरम पद को ज्ञान द्वारा समझना चाहिए।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

श्रुतिः—वैदिक ज्ञान; प्रत्यक्षम्—सीधा अनुभव; ऐतिह्यम्—परम्परागत विद्या; अनुमानम्—तार्किक अनुमान; चतुष्टयम्—चार; प्रमानेषु—सभी प्रकार के प्रमाणों में से; अनवस्थानात्—अस्थिरता के कारण; विकल्पात्—भौतिक विविधता से; सः—वह पुरुष; विरज्यते—विरक्त हो जाता है।.

वैदिक ज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव, परम्परागत विद्या (ऐतिह्य) तथा तार्किक अनुमान—इन चार प्रकार के प्रमाणों से मनुष्य भौतिक जगत की अस्थिर दशा को समझ कर, इस जगत के द्वैत से विरक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रुति अर्थात् वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि हर वस्तु का उद्भव परब्रह्म से होता है, उन्हीं के द्वारा उसका पालन होता है और अन्त में उन्हीं में लय हो जाता है। इसी तरह प्रत्यक्ष अनुभव से हम महान् साम्राज्यों, शहरों, इमारतों, शरीरों इत्यादि के सृजन तथा संहार को देख सकते हैं। इतना ही नहीं, परम्परागत विद्या विश्व के लोगों को चेतावनी देती रहती है कि इस जगत की वस्तुएँ टिकाऊ नहीं हैं। अनुमान द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। भौतिक इन्द्रियतृप्ति स्वर्गलोग के उच्चतम जीवन-स्तर से लेकर घोर नरक की निम्नतम परिस्थितियों

तक सदैव अस्थिर है और किसी भी क्षण समाप्त हो सकती है। इसलिए मनुष्य को *वैराग्य* उत्पन्न करना चाहिए जैसाकि यहाँ पर कहा गया है।

इस श्लोक का दूसरा अर्थ है कि यहाँ पर उद्धरित चार प्रकार के प्रमाण सर्वोच्च सत्य के वर्णन में परस्पर विरोधमूलक हैं। इसलिए मनुष्य को संसारी द्वैत से विरक्त हो जाना चाहिए जिसमें भौतिक जगत से संबद्ध वेदांश भी हैं। इसके बदले में उसे भगवान् को असली अधिकारी स्वीकार करना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* दोनों में, भगवान् कृष्ण स्वयं बोल रहे हैं इसलिए सांसारिक तर्क की स्पर्धात्मक पद्धति के भ्रामिक जाल में उलझने की आवश्यकता नहीं है। वह साक्षात् परब्रह्म से सीधे सुन कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तब वह उस ज्ञान की निम्न प्रणाली से विरक्त हो जाता है, जो उसे भौतिक मानसिक पद पर भटकाता रहता है।

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्च्यादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कर्मणाम्—भौतिक कार्यों का; परिणामित्वात्—विकारग्रस्त होने के कारण; आ—तक; विरिञ्च्यात्—ब्रह्मलोक से; अमङ्गलम्—अशुभ दुख; विपश्चित्—बुद्धिमान व्यक्ति; नश्वरम्—क्षणिक; पश्येत्—देखे; अदृष्टम्—जसिका अभी तक अनुभव नहीं किया जा सका; अपि—निस्सन्देह; दृष्ट-वत्—पहले अनुभव हुए के समान।

बुद्धिमान पुरुष यह समझे कि कोई भी भौतिक कर्म निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में भी केवल दुख ही दुख है। निस्सन्देह, बुद्धिमान व्यक्ति यह समझ सकता है कि जिस तरह सारी दृश्य वस्तुएँ क्षणिक हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड के भीतर सारी वस्तुओं का आदि और अन्त है।

तात्पर्य : *अदृष्टम्* शब्द इस ब्रह्माण्ड में उच्चतर लोकों में प्राप्य दैवी जीवन का सूचक है। ऐसा दैवी परिवेश वास्तव में पृथ्वीलोक में अनुभव नहीं किया जाता यद्यपि वैदिक वाङ्मय में इनका वर्णन है। यह तर्क किया जा सकता है कि वेदों के कर्मकाण्ड विभाग में भौतिक स्वर्ग जाने की संस्तुति है और यद्यपि वहाँ पर प्राप्य सुख शाश्वत नहीं है किन्तु कुछ काल तक जीवन-भोग तो किया जा सकता है। फिर भी भगवान् कृष्ण यहाँ बतलाते हैं कि ब्रह्मलोक में भी, जो स्वर्गलोक से उच्चतर है, कोई सुख नहीं है। उच्च लोकों में भी स्पर्धा, ईर्ष्या, क्षोभ, शोक तथा अन्ततोगत्वा मृत्यु हैं।

**भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परं ॥ १९ ॥**

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भगवद्भक्ति; पुरा—पूर्व काल में; एव—निस्सन्देह; उक्तः—बतलाया गया; प्रीयमाणाय—जिसने प्रेम उत्पन्न कर लिया है; ते—तुम तक; अनघ—हे निष्पाप उद्धव; पुनः—फिर; च—भी; कथयिष्यामि—बतलाऊँगा; मत्—मुझ तक; भक्तेः—भक्ति का; कारणम्—असली कारण; परम्—परम।

हे निष्पाप उद्धव, चूँकि तुम मुझे चाहते हो इसलिए मैं पहले ही तुम्हें भक्ति की विधि बतला चुका हूँ। अब मैं तुमसे पुनः अपनी प्रेमाभक्ति पाने की श्रेष्ठ विधि बतलाऊँगा।

तात्पर्य : यद्यपि भगवान् कृष्ण श्री उद्धव से पहले ही *भक्तियोग* बतला चुके थे, किन्तु उद्धव उससे तुष्ट नहीं हैं क्योंकि वे कृष्ण से प्रेम करते हैं। भगवान् से प्रेम करने वाला व्यक्ति वैदिक कर्तव्यों तथा वैश्लेषिक दर्शन के वर्णनों से मिली-जुली भक्ति की विवेचनाओं से पूरी तरह तृप्त नहीं हो सकता। चेतनता की चरम अवस्था शुद्ध कृष्ण-प्रेम है और जिसे कृष्ण की लत लगी हो वह ऐसे विषयों के अमृत का निरन्तर पान करना चाहता है। भगवान् कृष्ण ने मानव सभ्यता के अनेक पक्षों का व्यापक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है, जिसमें वर्णाश्रम प्रणाली, पदार्थ एवं आत्मा का अन्तर तथा इन्द्रियतृप्ति का परित्याग, इत्यादि सम्मिलित हैं। अब उद्धव भगवान् कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में सुनने के लिए विशेष रूप से लालायित हैं और भगवान् इसी विषय की ओर मुड़ते हैं।

**श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२ ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ २३ ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥ २४ ॥**

शब्दार्थ

श्रद्धा—श्रद्धा; अमृत—अमृत में; कथायाम्—कथाओं के; मे—मेरे विषयक; शश्वत्—सदैव; मत्—मेरे; अनुकीर्तनम्—महिमा का गायन; परिनिष्ठा—आसक्ति में स्थिर; च—भी; पूजायाम्—पूजा करने में; स्तुतिभिः—सुन्दर स्तुतियों से; स्तवनम्—प्रार्थनाओं से; मम—मेरे विषय में; आदरः—सम्मान; परिचर्यायाम्—मेरी भक्ति के लिए; सर्व-अङ्गैः—शरीर के सारे अंगों से, साष्टांग; अभिवन्दनम्—नमस्कार करना; मत्—मेरा; भक्त—भक्तों की; पूजा—पूजा; अभ्यधिका—मुझसे बढ़कर; सर्व-

भूतेषु—सारे जीवों में; मत्—मेरी; मतिः—चेतना; मत्-अर्थेषु—मेरी सेवा करने के निमित्त; अङ्ग-चेष्टा—सामान्य शारीरिक कर्म; च—भी; वचसा—शब्दों से; मत्-गुण—मेरा दिव्य गुण; ईरणम्—घोषित करना; मयि—मुझमें; अर्पणम्—अर्पण करना; च—भी; मनसः—मन का; सर्व-काम—समस्त भौतिक इच्छाओं का; विवर्जनम्—बहिष्कार; मत्-अर्थे—मेरे लिए; अर्थ—सम्पत्ति का; परित्यागः—छोड़ा जाना; भोगस्य—इन्द्रियतृप्ति का; च—भी; सुखस्य—भौतिक सुख का; च—भी; इष्टम्—वांछित कर्म; दत्तम्—दान; हुतम्—यज्ञ की आहुति; जप्तम्—भगवन्नाम का कीर्तन; मत्-अर्थम्—मुझे पाने के लिए; यत्—जो; व्रतम्—व्रत, यथा एकादशी; तपः—तपस्या; एवम्—इस प्रकार; धर्मैः—ऐसे धार्मिक सिद्धान्तों से; मनुष्यानाम्—मनुष्यों के; उद्धव—हे उद्धव; आत्म-निवेदिनाम्—शरणागतों के; मयि—मुझमें; सञ्जायते—उत्पन्न होता है; भक्तिः—प्रेमाभक्ति; कः—कौन; अन्यः—दूसरा; अर्थः—उद्देश्य; अस्य—मेरे भक्त का; अवशिष्यते—बच रहता है।

मेरी लीलाओं की आनन्दमयी कथाओं में दृढ़ विश्वास, मेरी महिमा का निरन्तर कीर्तन, मेरी नियमित पूजा में गहन आसक्ति, सुन्दर स्तुतियों से मेरी प्रशंसा करना, मेरी भक्ति का समादर, साष्टांग नमस्कार, मेरे भक्तों की उत्तम पूजा, सारे जीवों में मेरी चेतना का ज्ञान, सामान्य शारीरिक कार्यों को मेरी भक्ति में अर्पण, मेरे गुणों का वर्णन करने के लिए वाणी का प्रयोग, मुझे अपना मन अर्पित करना, समस्त भौतिक इच्छाओं का बहिष्कार, मेरी भक्ति के लिए सम्पत्ति का परित्याग, भौतिक इन्द्रियतृप्ति तथा सुख का परित्याग तथा मुझे पाने के उद्देश्य से दान, यज्ञ, कीर्तन, व्रत, तपस्या इत्यादि वांछित कार्यों को सम्पन्न करना—ये वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त हैं, जिनसे मेरे शरणागत हुए लोग स्वतः मेरे प्रति प्रेम उत्पन्न कर लेते हैं। तो फिर मेरे भक्त के लिए कौन-सा अन्य उद्देश्य या लक्ष्य शेष रह जाता है?

तात्पर्य : इस श्लोक में *मद्भक्तपूजाभ्यधिका* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *अभ्यधिका* "उत्तम कोटि" का सूचक है। भगवान् उनसे अत्यधिक तुष्ट रहते हैं, जो उनके शुद्ध भक्तों की पूजा करते हैं और वे उन्हें तदनुसार फल देते हैं। भगवान् द्वारा अपने शुद्ध भक्तों के उदारमूल्यांकन के कारण, शुद्ध भक्तों की पूजा को साक्षात् भगवान् की पूजा से श्रेष्ठ बताया गया है। *मद् अर्थेष्वङ्ग चेष्टा* शब्द यह बताते हैं कि दाँत साफ करना, स्नान करना, भोजन करना इत्यादि सामान्य शारीरिक कार्य भक्ति-रूप में भगवान् को अर्पित करने चाहिए। *वचसा मद्गुणेरणम्* सूचित करते हैं कि चाहे भोंडी भाषा में या विद्वत्तापूर्ण कवि-स्वर में हो, भगवान् की महिमा का वर्णन होना चाहिए। *मद् अर्थेऽर्थ परित्यागः* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को अपना धन भगवान् की महिमा व्यक्त करने वाले उत्सवों में खर्च करना चाहिए, यथा रथ-यात्रा, जन्माष्टमी तथा गौर-पूर्णिमा में। यही नहीं, यहाँ यह भी आदेश है कि मनुष्य अपना धन अपने गुरु तथा अन्य वैष्णवों के मिशन में सहायता पहुँचाने के लिए खर्च करे। जो धन भगवान् की सेवा में ठीक से उपयोग में नहीं लाया जा सकता और इस तरह विमल चेतना में व्यवधान बनता है,

उसका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। *भोगस्य* शब्द यौन-भोग इत्यादि इन्द्रियतृप्ति का द्योतक है और *सुखस्य* भावात्मक भौतिक सुख यथा अत्यधिक पारिवारिक आसक्ति का। *दत्तं हुतम्* शब्द सूचित करते हैं कि ब्राह्मणों तथा वैष्णवों को घी में तैयार उत्तम भोजन प्रदान किया जाय। मनुष्य को चाहिए कि प्रामाणिक यज्ञ-अग्नि में स्वाहा उच्चारण के साथ अन्न तथा घृत डाले। *जप्तम्* शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को निरन्तर भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए।

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं स वैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मनि—भगवान् में; अर्पितम्—स्थिर; चित्तम्—चेतना; शान्तम्—शान्त; सत्त्व—सतोगुण द्वारा; उपबृंहितम्—संपुष्ट; धर्मम्—धार्मिकता; ज्ञानम्—ज्ञान; सः—सहित; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अभिपद्यते—प्राप्त करता है।

जब सतोगुण से संतुष्ट शान्त चेतना भगवान् पर स्थिर कर दी जाती है, तो मनुष्य को धार्मिकता, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य प्राप्त होता है।

तात्पर्य : हर वस्तु को भगवान् की सेवा के लिए चाहते हुए और अपने लिए कुछ भी न चाहते हुए, शुद्ध भक्त *शान्त* बन जाता है। वह दिव्य सतोगुण द्वारा परिपुष्ट बनता है और इस तरह भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा करने के परम धर्म को प्राप्त करता है। वह भगवान् के स्वरूप तथा अपने आध्यात्मिक शरीर, भौतिक शुद्धता तथा पाप से वैराग्य तथा वैकुण्ठ के ऐश्वर्य का *ज्ञान* भी प्राप्त कर लेता है। किन्तु जो भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता तदपि जिसकी भक्ति, योग के प्रति आकर्षण से मिश्रित होती है, वह सतोगुण द्वारा परिपुष्ट होता है। वह भगवान् का ध्यान करके धर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के कम महत्त्वपूर्ण फल प्राप्त करता है। अन्तत: मनुष्य को भगवान् का शुद्ध भक्त होना चाहिए क्योंकि भौतिक जगत चाहे जितनी भी उत्तम भेंट क्यों न करे, वह भगवद्धाम की तुलना में नगण्य है।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जब; अर्पितम्—स्थिर; तत्—यह (चेतना); विकल्पे—भौतिक विविधता में (शरीर, घर, परिवार आदि); इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; परिधावति—चारों ओर दौ लगाते; रजः-वलम्—रजोगुण से परिपुष्ट; च—भी; असत्—जिसमें स्थायी सच्चाई नहीं है उसे; निष्ठम्—समर्पित; चित्तम्—चेतना; विद्धि—जानो; विपर्ययम्—(पूर्व वर्णित के) विरुद्ध।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक देह, घर तथा इन्द्रियतृप्ति की ऐसी ही अन्य वस्तुओं पर टिक जाती है, तो वह इन्द्रियों की सहायता से भौतिक वस्तुओं के पीछे दौ लगाते-लगाते अपना जीवन व्यतीत करता है। इस तरह रजोगुण से बलपूर्वक प्रभावित चेतना नश्वर वस्तुओं के प्रति समर्पित हो जाती है, जिससे अधर्म, अज्ञान, आसक्ति तथा नीचता (कृपणता) उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में भगवान् कृष्ण ने अपने ऊपर मन टिकाने का शुभ फल बतलाया है और अब उसकी उल्टी स्थिति बतला रहे हैं। *रजस्वलम्*—सूचित करता है कि मनुष्य की वासना इतनी प्रबल हो उठती है कि वह पापपूर्ण कृत्य करता है और दुर्भाग्य का शिकार बनता है। यद्यपि भौतिकतावादी लोग आसन्न विपत्ति के प्रति आँखें मूँदें रहते हैं, इसकी पुष्टि सभी प्रकार के प्रमाणों से—वैदिक आदेशों, प्रत्यक्ष निरीक्षण, परम्परागत विज्ञता तथा निगमनात्मक तर्क—की जा सकती है कि ईश्वरी नियमों का उल्लंघन विपदापूर्ण है।

धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेस्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥ २७॥

शब्दार्थ

धर्मः—धर्म; मत्—मेरी; भक्ति—भक्ति; कृत्—उत्पन्न करते हुए; प्रोक्तः—घोषित की जाती है; ज्ञानम्—ज्ञान; च—भी; ऐकात्म्य—परमात्मा की उपस्थिति; दर्शनम्—देखना; गुणेषु—इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में; असङ्गः—निर्लिप्त; वैराग्यम्—वैराग्य; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; च—भी; अणिमा—अणिमा नामक योग-सिद्धि; आदयः-अन्द् सो फोर्थ्.

वास्तविक धार्मिक सिद्धान्त वे हैं, जो मनुष्य को मेरी भक्ति तक ले जाते हैं। असली ज्ञान वह जानकारी है, जो मेरी सर्वव्यापकता को प्रकट करती है। इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं में पूर्ण अरुचि ही वैराग्य है और अणिमा सिद्धि जैसी आठ सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं।

तात्पर्य : भगवान् परम ज्ञान हैं अतः जो व्यक्ति अज्ञान से छूट जाता है, वह अपने आप भगवद्भक्ति में लग जाता है और धार्मिक कहलाता है। जो व्यक्ति प्रकृति के तीन गुणों तथा उनसे उत्पन्न इन्द्रियतृप्ति प्रदान करने वाले पदार्थों से विरक्त रहता है, वह वैराग्य को प्राप्त माना जाना है। आठ योग-सिद्धियाँ, जिन्हें भगवान् उद्धव से पहले ही बता चुके हैं, सर्वोच्च ऐश्वर्य के अन्तर्गत आती हैं।

श्रीउद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्षण ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥ २८ ॥

किं दानं किं तपः शौर्यं किम्सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥ २९ ॥

पुंसः किं स्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥ ३० ॥

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥ ३१ ॥

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; यमः—अनुशासनात्मक नियम; कति-विधः—कितने भिन्न प्रकार के; प्रोक्तः—विद्यमान कहे जाते हैं; नियमः—नियमित नैत्यिक कार्य; वा—अथवा; अरि-कर्षण—हे शत्रु के दमनकर्ता, कृष्ण; कः—क्या है; शमः—मानसिक सन्तुलन; कः—क्या है; दमः—आत्मसंयम; कृष्ण—हे कृष्ण; का—क्या है; तितिक्षा—सहिष्णुता; धृतिः—दृढ़ता, धैर्य; प्रभो—हे प्रभु; किम्—क्या है; दानम्—दान; किम्—क्या है; तपः—तपस्या; शौर्यम्—शूरता; किम्—क्या है; सत्यम्—सच्चाई; ऋतम्—सत्य; उच्यते—कहलाता है; कः—क्या है; त्यागः—वैराग्य; किम्—क्या है; धनम्—सम्पत्ति; च—भी; इष्टम्—इच्छित; कः—क्या है; यज्ञः—यज्ञ; का—क्या है; च—भी; दक्षिणा—धार्मिक पारिश्रमिक, दक्षिणा; पुंसः—पुरुष का; किम्—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; बलम्—बल; श्री-मन्—हे भाग्यवान् कृष्ण; भगः—ऐश्वर्य; लाभः—लाभ; च—भी; केशव—हे केशव; का—क्या है; विद्या—शिक्षा; ह्रीः—दीनता, नम्रता; परा—परम; का—क्या है; श्रीः—सौन्दर्य; किम्—क्या है; सुखम्—सुख; दुःखम्—दुख; एव—निस्सन्देह; च—भी; कः—कौन है; पण्डितः—विद्वान; कः—कौन है; च—भी; मूर्खः—मूर्ख; कः—क्या है; पन्थाः—असली मार्ग; उत्पथः—झूठा मार्ग, कुमार्ग; च—भी; कः—क्या है; कः—क्या है; स्वर्गः—स्वर्ग; नरकः—नरक; कः—क्या है; स्वित्—निस्सन्देह; कः—कौन है; बन्धुः—मित्र; उत—तथा; किम्—क्या है; गृहम्—घर; कः—कौन है; आढ्यः—धनी; कः—कौन है; दरिद्रः—गरीब, निर्धन; वा—अथवा; कृपणः—कंजूस; कः—कौन है; कः—कौन है; ईश्वरः—नियन्ता; एतान्—इन; प्रश्नान्—प्रश्नों को; मम—मुझसे; ब्रूहि—कृपया कहें; विपरीतान्—विरोधी गुण; च—भी; सत्-पते—हे भक्तों के स्वामी।

श्री उद्धव ने कहा : हे कृष्ण, हे शत्रुओं को दण्ड देने वाले, कृपा करके मुझसे यह बतायें कि कितने प्रकार के अनुशासनात्मक नियम (यम) तथा नियमित दैनिक कार्य (नियम) हैं। यही नहीं, हे प्रभु, मुझे यह भी बतायें कि मानसिक संतुलन क्या है, आत्मसंयम क्या है और सहिष्णुता तथा दृढ़ता का असली अर्थ क्या है? दान, तपस्या तथा शौर्य क्या हैं और वास्तविकता तथा सच्चाई का किस तरह वर्णन किया जाता है? त्याग क्या है और सम्पत्ति क्या है? इच्छित क्या है, यज्ञ क्या है और दक्षिणा क्या है? हे केशव, हे भाग्यवान्, मैं किस तरह किसी व्यक्ति के बल, ऐश्वर्य तथा लाभ को समझूँ? सर्वोत्तम शिक्षा क्या है? वास्तविक नम्रता क्या है और असली सौन्दर्य क्या है? सुख और दुख क्या हैं? कौन विद्वान है और कौन मूर्ख है? जीवन के असली तथा मिथ्या मार्ग क्या हैं और स्वर्ग तथा नरक क्या हैं? असली मित्र कौन है और असली घर क्या है? कौन धनी है और कौन निर्धन है? कौन कंजूस है और कौन वास्तविक

नियन्ता है? हे भक्तों के स्वामी, कृपा करके मुझे इन बातों के साथ साथ इनकी विपरीत बातें भी बतलायें।

तात्पर्य : इन पाँच श्लोकों में उल्लिखित सभी बातें भिन्न भिन्न प्रकारों से विश्व-भर में भिन्न संस्कृतियों तथा समाजों में परिभाषित की गई हैं। इसलिए श्री उद्धव सभ्य जीवन के इन विश्वजनीन पक्षों की मानक परिभाषा पाने के लिए परम अधिकारी भगवान् कृष्ण से पूछ रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच
अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥ ३३ ॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ ३४ ॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्य; अस्तेयम्—अन्यों की सम्पत्ति के लिए न तो ललचाना, न चोरी करना; असङ्गः—विरक्ति; ह्रीः—दीनता; असञ्चयः—अपरिग्रह; आस्तिक्यम्—धर्म में विश्वास; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य; च—भी; मौनम्—मौन; स्थैर्यम्—स्थिरता; क्षमा—क्षमा करना; अभयम्—निर्भीकता; शौचम्—भीतरी तथा बाहरी स्वच्छता; जपः—भगवन्नाम का कीर्तन; तपः—तपस्या; होमः—यज्ञ; श्रद्धा—श्रद्धा; आतिथ्यम्—अतिथि-सत्कार; मत्-अर्चनम्—मेरी पूजा; तीर्थ-अटनम्—तीर्थयात्रा करना; पर-अर्थ-ईह—परमेश्वर के लिए कर्म करना तथा इच्छा करना; तुष्टिः—सन्तोष; आचार्य-सेवनम्—गुरु-सेवा; एते—ये; यमाः—अनुशासनात्मक नियम; स-नियमाः—गौण कार्यों के साथ; उभयोः—दोनों का; द्वादश—बारह; स्मृताः—जाने जाते हैं; पुंसाम्—मनुष्यों द्वारा; उपासिताः—भक्तिपूर्वक अनुशीलन किया गया; तात—हे उद्धव; यथा-कामम्—अपनी इच्छानुसार; दुहन्ति—पूर्ति करते हैं; हि—निस्सन्देह।

भगवान् ने कहा : अहिंसा, सत्य, दूसरों की सम्पत्ति से लालायित न होना या चोरी न करना, वैराग्य, दीनता, अपरिग्रह, धर्म में विश्वास, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा तथा अभय—ये बारह मूल अनुशासनात्मक यम (नियम) हैं। आन्तरिक तथा बाह्य स्वच्छता, भगवन्नाम कीर्तन, यज्ञ, श्रद्धा, आतिथ्य, मेरी पूजा, तीर्थाटन, केवल परम लक्ष्य के लिए कार्य करना तथा इच्छा करना, सन्तोष तथा गुरु-सेवा—ये बारह नियमित कार्य (नियम) हैं। ये चौबीसों कार्य उन लोगों को इच्छित वर देने वाले हैं, जो उनका भक्तिपूर्वक अनुशीलन करते हैं।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसम्मर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥ ३६ ॥

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं सत्यं च समदर्शनम् ॥ ३७ ॥
अन्यच्च सुनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसङ्गमः शौचं त्यागः सन्न्यास उच्यते ॥ ३८ ॥
धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

शमः—मानसिक सन्तुलन; मत्—मुझमें; निष्ठता—निष्ठा; बुद्धेः—बुद्धि की; दमः—आत्मसंयम; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; संयमः—पूर्ण अनुशासन; तितिक्षा—सहिष्णुता; दुःख—दुख; सम्मर्षः—सहन करना; जिह्वा—जीभ; उपस्थ—जननेन्द्रिय; जयः—जीतना; धृतिः—स्थिरता; दण्ड—आक्रामकता, छेड़छाड़; न्यासः—त्यागना; परम्—परम; दानम्—दान; काम—विषय-वासना; त्यागः—त्यागना; तपः—तपस्या; स्मृतम्—माना जाता है; स्वभाव—भोग करने की सहज प्रवृत्ति; विजयः—जीत; शौर्यम्—वीरता; सत्यम्—सत्य; च—भी; सम-दर्शनम्—परमेश्वर का सर्वत्र दर्शन होना; अन्यत्—अगला तत्त्व (सच्चाई); च—तथा; सु-नृता—मधुर; वाणी—वाणी; कविभिः—मुनियों द्वारा; परिकीर्तिता—घोषित; कर्मसु—सकाम कर्मों में; असङ्गमः—विरक्ति; शौचम्—स्वच्छता; त्यागः—त्याग; सन्न्यासः—संन्यास आश्रम; उच्यते—कहलाता है; धर्मः—धार्मिकता; इष्टम्—इष्ट; धनम्—सम्पत्ति; नृणाम्—मनुष्यों के लिए; यज्ञः—यज्ञ; अहम्—मैं हूँ; भगवत्-तमः—भगवान्; दक्षिणा—दक्षिणा; ज्ञान-सन्देशः—सम्यक ज्ञान का उपदेश; प्राणायामः—श्वास रोकने की योग-पद्धति; परम्—परम; बलम्—शक्ति।

मुझमें बुद्धि लगाना मानसिक सन्तुलन (शम) है और इन्द्रियों का पूर्ण संयम आत्मसंयम (दम) है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना। स्थिरता तब आती है जब मनुष्य जीभ तथा जननेन्द्रियों पर विजय पा लेता है। सबसे बड़ा दान है अन्यों के प्रति सभी प्रकार की छेड़छाड़ त्यागना। काम (विषय-वासना) का परित्याग ही असली तपस्या है। असली शौर्य भौतिक जीवन का भोग करने की सहज प्रवृत्ति को जीतना है तथा भगवान् का सर्वत्र दर्शन करना ही सच्चाई (सत्य) है। सत्यता का अर्थ है मधुर ढंग से सत्य बोलना जैसा कि महर्षियों ने घोषित किया है। स्वच्छता का अर्थ है सकाम कर्मों से विरक्ति जबकि त्याग ही संन्यास है। मनुष्यों की असली इष्ट सम्पत्ति धार्मिकता है और मैं, भगवान् ही यज्ञ हूँ। आध्यात्मिक उपदेश प्राप्त करने के उद्देश्य से गुरु-भक्ति ही दक्षिणा है और सबसे बड़ी शक्ति है श्वास रोकने की प्राणायाम विधि।

तात्पर्य : भगवान् कृष्ण यहाँ पर उन गुणों का वर्णन कर रहे हैं, जो मानव जीवन में प्रगति करने वाले मनुष्यों के लिए वांछित हैं। *शम* का अर्थ है बुद्धि को भगवान् कृष्ण में स्थिर करना। कृष्णभावनामृत के बिना कोरी शान्ति मन की जड़ तथा व्यर्थ अवस्था है। *दम* का अर्थ है सबसे पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करना। यदि कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में किये बिना अपने बच्चों,

शिष्यों या अनुयायियों को अनुशासित बनाना चाहता है, तो वह उपहास का पात्र बन जाता है। सहिष्णुता का अर्थ है धैर्यपूर्वक दुख सहना जैसा अन्यों द्वारा अपमान या उपेक्षा से उत्पन्न होता है। कभी कभी शास्त्रों के आदेशों का पालन करने में भौतिक असुविधाएँ स्वीकार करनी पड़ती हैं और ऐसे दुख को भी धैर्यपूर्वक सहन कर लेना चाहिए। यदि अन्यों के द्वारा किये गये अपमान तथा अपशब्दों को किसी मनुष्य द्वारा सहा नहीं जाता, या प्रामाणिक धार्मिक शास्त्रों के पालन से उत्पन्न असुविधाओं को सहा नहीं जाता, तो उसके लिए अत्यधिक धूप, शीत, कष्ट इत्यादि सहने का दिखावा करके अन्यों पर प्रभाव जमाना कोरी मूर्खता होगी। यदि कोई व्यक्ति अपनी जीभ तथा अपनी जननेन्द्रिय को वश में नहीं करता, तो किसी भी प्रकार की स्थिरता व्यर्थ है। असली दान तो अन्यों के प्रति सारी आक्रामकता का त्याग है। यदि कोई दानखाते में धन देता है, किन्तु साथ ही शोषण कार्यों में या दुरुपयुक्त राजनीतिक दाँव-पेंच में लगा रहता है, तो उसके दान का कोई मूल्य नहीं रहता। तपस्या का अर्थ है विषय-वासना तथा इन्द्रियतृप्ति का त्याग और एकादशी जैसा व्रत रखना। इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर को कष्ट देने वाली मनमानी विधियों को ईजाद किया जाय। वास्तविक शौर्य अपनी निम्न मनोवृत्ति को जीतना है। प्रत्येक व्यक्ति तेजस्वी व्यक्ति के रूप में अपने यश का प्रचार करना चाहता है किन्तु उसमें काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि आ ही जाते हैं। इसलिए यदि कोई व्यक्ति रजो तथा तमोगुणों से उत्पन्न इन छोटी छोटी बुराइयों को जीत सकता है, तो वह उनकी तुलना में बड़ा वीर है, जो कपट तथा हिंसा द्वारा केवल अपने राजनीतिक विपक्षियों को नष्ट कर देते हैं।

ईर्ष्या-द्वेष का त्याग करके तथा हर शरीर के भीतर आत्मा के अस्तित्व को पहचान करके मनुष्य सम-दृष्टि उत्पन्न कर सकता है। यह मनोवृत्ति परमेश्वर को प्रसन्न करती है और तब वे अपने को प्रकट करते हैं जिससे मनुष्य की समदृष्टि की पुष्टि होती है। विद्यमान वस्तुओं का मात्र वर्णन करना सच्चाई की अनुभूति नहीं है। उसे सारे जीवों तथा सारी परिस्थितियों की सही आध्यात्मिक समता को भी देखना चाहिए। सत्य का अर्थ है मधुर ढंग से बोलना जिससे लाभकारी प्रभाव पड़े। यदि सच्चाई के नाम पर अन्यों के दोषों पर उंगली उठाता है, तो ऐसा छिद्रान्वेषण सन्त पुरुषों को पसंद नहीं आता। प्रामाणिक गुरु सत्य का भाषण इस तरह करता है कि लोग आध्यात्मिक पद तक उठ सकें। सत्य की यह कला सीखनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति भौतिक वस्तुओं में आसक्त रहता है, तो उसका शरीर तथा

मन सदैव दूषित रहते हैं। अतएव स्वच्छता का अर्थ है भौतिक आसक्ति को त्याग देना, न कि केवल जल से शरीर की त्वचा को बार-बार धोना। असली त्याग तो अपने सम्बन्धियों तथा पत्नी के ऊपर अपनी झूठी स्वामित्व भावना को त्यागना है, मात्र भौतिक वस्तुओं को त्यागना नहीं। असली सम्पत्ति धर्ममय होना है। यज्ञ तो साक्षात् भगवान् है क्योंकि यज्ञकर्ता को अपनी चेतना भगवान् में लीन करनी चाहिए, यज्ञ से प्राप्त होने वाले क्षणिक भौतिक लाभ में नहीं। असली दक्षिणा का अर्थ है कि साधु पुरुषों की सेवा की जाय जिससे वे उसे आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान कर सकें। मनुष्य को चाहिए कि उस गुरु को, उसी ज्ञान को दूसरों को प्रदान करके, दक्षिणा दे, जिसने उसे प्रकाश दिया है और इस तरह वह आचार्य को प्रसन्न करे। प्रचार का कार्य सबसे बड़ी दक्षिणा है। प्राणायाम द्वारा मनुष्य अपने मन को सरलता से दमित कर सकता है और जो व्यक्ति इस तरह चंचल मन को भलीभाँति वश में कर लेता है, वही सबसे शक्तिशाली पुरुष है।

भगो म ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ।
श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ॥ ४० ॥
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ।
मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ॥ ४१ ॥
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ।
नरकस्तमउन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ॥ ४२ ॥
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ।
दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ॥ ४३ ॥
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसङ्गो विपर्ययः ।
एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ॥ ४४ ॥
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

भगः—ऐश्वर्य; मे—मेरा; ऐश्वरः—ईश्वरी; भावः—स्वभाव; लाभः—लाभ; मत्-भक्तिः—मेरी भक्ति; उत्तमः—सर्वश्रेष्ठ; विद्या—शिक्षा; आत्मनि—आत्मा में; भिदा—द्वैत; बाधः—निरस्त करना; जुगुप्सा—घृणा; ह्रीः—विनयशीलता; अकर्मसु—पापपूर्ण कार्यों में; श्रीः—सौन्दर्य; गुणाः—सद्गुण; नैरपेक्ष्य—भौतिक वस्तुओं से विराग; आद्याः—इत्यादि; सुखम्—सुख; दुःख—दुख; सुख—भौतिक सुख; अत्ययः—पार करना; दुःखम्—दुख; काम—विषय-वासना का; सुख—सुख पर; अपेक्षा—ध्यान करना; पण्डितः—चतुर व्यक्ति; बन्ध—बन्धन से; मोक्ष—मोक्ष; वित्—जानने वाला; मूर्खः—मूर्ख; देह—देह सहित; आदि—इत्यादि (मन); अहम्-बुद्धिः—जो अपनी पहचान करता है; पन्थाः—असली मार्ग; मत्—मुझ तक; निगमः—जाने वाला; स्मृतः—समझना चाहिए; उत्पथः—गलत रास्ता; चित्त—चेतना की; विक्षेपः—मोहग्रस्तता; स्वर्गः—स्वर्ग; सत्त्व-

गुण—सतोगुण का; उदय:—प्राधान्य; नरक:—नरक; तम:—तमोगुणी की; उन्नाह:—प्रधानता; बन्धु:—असली मित्र; गुरु:—गुरु; अहम्—मैं हूँ; सखे—हे मित्र उद्धव; गृहम्—घर; शरीरम्—शरीर; मानुष्यम्—मनुष्य का; गुण—सद्गुणों सहित; आढ्य:—समृद्ध; हि—निस्सन्देह; आढ्य:—धनी व्यक्ति; उच्यते—कहलाता है; दरिद्र:—निर्धन व्यक्ति; य:—जो; तु—निस्सन्देह; असन्तुष्ट:—असंतुष्ट; कृपण:—कंजूस; य:—जो; अजित—नहीं जीती हैं; इन्द्रिय:—इन्द्रियाँ; गुणेषु—भौतिक इन्द्रियतृप्ति में; असक्त—आसक्त नहीं; धी:—जिसके बुद्धि; ईश:—नियामक; गुण—इन्द्रियतृप्ति; सङ्ग:—आसक्त; विपर्यय:—विपरीत, चाकर; एते—ये; उद्धव—हे उद्धव; ते—तुम्हारे; प्रश्ना:—प्रश्न; सर्वे—सभी; साधु—उचित ढंग से; निरूपिता:—व्याख्या किये गये; किम्—क्या लाभ; वर्णितेन—वर्णन करने का; बहुना—विस्तार से; लक्षणम्—लक्षण; गुण—सद्गुणों के; दोषयो:—तथा दुर्गुणों के; गुण-दोष—अच्छे तथा बुरे गुण; दृशि:—देखना; दोष:—दोष; गुण:—असली सद्गुण; तु—निस्सन्देह; उभय—दोनों से; वर्जित:—पृथक्।

वास्तविक ऐश्वर्य भगवान् के रूप में मेरा निजी स्वभाव है, जिसके माध्यम से मैं छः असीम ऐश्वर्यों को प्रकट करता हूँ। जीवन का सबसे बड़ा लाभ मेरी भक्ति है और असली शिक्षा (विद्या) आत्मा के भीतर के झूठे द्वैतभाव को समाप्त करना है। असली उदारता अनुचित कार्यों से घृणा करना है। विरक्ति जैसे सद्गुण का होना सौन्दर्य है। भौतिक सुख तथा दुख को लाँघना असली सुख है और असली दुख तो यौन-सुख की खोज में अपने को फँसाना है। बुद्धिमान वही है, जो बन्धन से छूटने की विधि जानता है और मूर्ख वह है, जो अपनी पहचान अपने शरीर तथा मन से करता है। जीवन में असली मार्ग वह है, जो मुझ तक ले जाने वाला है और कुमार्ग इन्द्रियतृप्ति है, जिससे चेतना मोहग्रस्त हो जाती है। वास्तविक स्वर्ग सतोगुण की प्रधानता है और अज्ञान की प्रधानता ही नरक है। मैं समस्त ब्रह्माण्ड के गुरु रूप में हर एक का असली मित्र हूँ। मनुष्य का घर उसका शरीर है। हे प्रिय मित्र उद्धव, जो सद्गुणों से युक्त है, वही धनी कहा जाता है और जो जीवन से असंतुष्ट रहता है, वही निर्धन है। कृपण वह है, जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता और असली नियंत्रक वह है, जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त नहीं होता। इसके विपरीत जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति में आसक्त रहता है, वह दास होता है। इस प्रकार हे उद्धव, मैंने तुम्हारे द्वारा पूछे गये सारे विषयों की व्याख्या कर दी है। इन सद्गुणों तथा दुर्गुणों की अधिक विशद व्याख्या की आवश्यकता नहीं है क्योंकि निरन्तर गुण तथा दोषों को देखना स्वयं में एक दुर्गुण है। सर्वोत्कृष्ट गुण तो भौतिक गुण और दोष को लाँघ जाना है।

तात्पर्य : भगवान् स्वभावत: षड् ऐश्वर्यों—असीम सौन्दर्य, धन, यश, ज्ञान, बल तथा त्याग से युक्त होते हैं। इसलिए जीवन का सबसे बड़ा लाभ है उन भगवान् की साकार प्रेमाभक्ति प्राप्त करना जो समस्त आनन्द के आगार हैं। असली शिक्षा का अर्थ है इस मिथ्या भाव को त्यागना कि कोई भी वस्तु

समस्त शक्तियों के उद्गम भगवान् से पृथक् है। इसी तरह आत्मा को परमात्मा से पृथक् नहीं मानना चाहिए। मात्र लज्जा से उदारता नहीं आती। मनुष्य को चाहिए कि वह पापकर्मों से विरत हो, तभी वह वास्तविक उदार या विनम्र है। जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में तुष्ट है और भौतिक आनन्द की खोज नहीं करता अथवा भौतिक दुख से दुखी नहीं होता, उसे ही वास्तव में सुखी समझना चाहिए। सबसे कृपण व्यक्ति वह है, जो यौन–सुख में लिप्त रहता है और पंडित वह है, जो ऐसे भौतिक बन्धन से छूटने की विधि जानता है। मूर्ख वह है, जो भगवान् से अपनी नित्य मित्रता त्याग कर अपनी पहचान शरीर, मन, समाज, जाति, परिवार से करता है। जीवन का असली मार्ग अन्तरराज्यीय सड़कें या काँटों और कीचड़ से रहित रास्ता नहीं है। यह वह मार्ग है, जो भगवान् की ओर ले जाता है। जीवन का गलत मार्ग केवल चोर–उचक्कों अथवा चुंगी के फाटकों से युक्त सड़क नहीं होता, यह वह मार्ग है, जो भौतिक इन्द्रियतृप्ति के नितान्त ऊहापोह तक ले जाता है। स्वर्ग वह है, जिसमें सतोगुण की प्रधानता रहती है। यह इन्द्रलोक नहीं है जहाँ रजो तथा तमोगुण कभी कभी स्वर्गिक वातावरण को क्षुब्ध कर देते हैं।जहाँ कहीं भी तमोगुण प्रधान होता है, वहीं नरक होता है। वह केवल नरकलोक में नहीं होता जहाँ शिवजी के अनुसार शुद्ध भक्त कृष्ण का चिन्तन करके सुखी रहता है। जीवन में हमारा असली मित्र गुरु है, जो हमें सभी प्रकार के संकटों से बचाता है। सभी गुरुओं में भगवान् कृष्ण स्वयं ही *जगद्गुरु* हैं। भौतिक जीवन में हमारा भौतिक शरीर ही हमारा घर है, ईंट, सीमेन्ट, पत्थर, लकड़ी से बना घर नहीं। धनी व्यक्ति वह है, जिसमें असंख्य सद्गुण पाये जायँ—वह बहुत बड़े बैंक–खाते वाला मनोविकारयुक्त मूर्ख नहीं होता। निर्धन वह है, जो असंतुष्ट रहता है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता, वही दयनीय है और दुखी है, जबकि भौतिक जीवन से अपने को विरक्त कर लेने वाला वास्तव में स्वामी या नियंत्रक होता है। वर्तमान समय में यूरोप तथा अन्य देशों में प्रभुसत्ता के अवशेष पाये जाते हैं किन्तु ऐसे तथाकथित राजे–रजवाड़े निम्न योनि की आदतें प्रदर्शित करते हैं। असली स्वामी तो वह है, जो आध्यात्मिक पद तक पहुँच कर भौतिक जगत को जीत लेता है। जो व्यक्ति भौतिक जीवन में लिप्त है, वह यहाँ पर वर्णित सद्गुणों से विपरीत गुण प्रदर्शित करेगा और इस तरह वह जीवन में पीछे जाने का प्रतीक होता है। भगवान् अपनी व्याख्या यह कह कर समाप्त करते हैं कि इन अच्छे तथा बुरे गुणों की और अधिक व्याख्या आवश्यक नहीं है। निस्सन्देह, जीवन का उद्देश्य इन गुणों और दोषों को

लाँघ कर शुद्ध कृष्णभावनामृत के मुक्त पद तक पहुँचना है। इसकी अधिक व्याख्या अगले अध्याय में की जायेगी।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''आध्यात्मिक ज्ञान की सिद्धि'' नामक उन्नीसवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।